यहां कमलनी खिलती है

मृदुला गर्ग

कहानी

यहाँ कमलनी खिलती है

मृदुला गर्ग

यहाँ कमलनी खिलती है

वीराने में दो औरतें मौन बैठी थीं। पास-पास नहीं, दूर; अलग, दो छोरों पर असंपृक्त। एक नजर देख कर ही पता चल जाता था कि उनका आपस में कोई संबंध न था; वे देश के दो ध्रुवों पर वास करने वाली औरतें थीं।

एक औरत सूती सफेद साड़ी में लिपटी थी। पूरी की पूरी सफेद; रंग के नाम पर न छापा, न किनारा, न पल्लू। साड़ी थी एकदम कोरी धवल पर अहसास, उजाले का नहीं, बेरंग होने का जगाती थी। मैली-कुचैली या फिड्डी-धूसर नहीं थी। मोटी-झोटी भी नहीं, महीन बेहतरीन बुनी-कती थी जैसी मध्यवर्ग की उम्रदराज शहरी औरतें आमतौर पर पहनती हैं। हाँ, थी मुसी-तुसी। जैसे पहनी नहीं बदन पर लपेटी भर हो। बेखयाली में आदतन खुँसी पटलियाँ, कंधे पर फिंका पल्लू और साड़ी के साथ खुद को भूल चुकी औरत। बदन पर कोई जेवर न था, न चेहरे पर तनिक-सा प्रसाधन, माथे पर बिंदी तक नहीं। वीराने में बने एक मझोले अहाते के भीतर बैठी थी वह। चारों तरफ से खुला, बिला दरोदीवार, गाँव के चौपाल जैसा, खपरैल से ढका गोल अहाता।

दरअसल, वीराना वीरान था भी और नहीं भी। दो बीघा जमीन का टुकड़ा, दो फुट ऊँची चाहरदीवारी से घिरा था। दीवार इनसान की बनाई हुई थी, इसलिए उसे वीराने का हिस्सा नहीं माना जा सकता था। पर उसकी गढ़न स्त्री की साड़ी जैसी बेरंग-बेतरतीब थी; यूँ कि उसका होना-न होना बेमानी था। वह बस थी; पेड़-पत्तों से महरूम, उस खारी धरती की निर्जन सारहीनता को बाँध, कम करने के बजाय बढ़ा रही थी। उस जमीन को घेरते वक्त, घेरने वाले का इरादा, उसे आबाद करने का नहीं था। दिल की वीरानी को हरदम रौंदते यादों के काफिले को जीते-जीते, बाकी की जिंदगी जीने की कूवत पैदा करने के लिए, जिस एकांत की जरूरत होती है, उसी को निजी बनाने की कोशिश थी। कभी कभी सुकून पाने को वीराने में ही ठौर बनाना पड़ता है; वैसा ही ठौर था वह मँझोला छाजन।

पर अचरज, इनसानों को बसाने का जज्बा भले न रहा हो, फूलते-फलते पेड़ लगाने का इरादा जरूर था। इरादा कि उम्मीद! जिद या दीवानगी! जो था, कारगर न हुआ। धरती में खार की पहुँच इतनी गहरी थी और निकास के अभाव में, बरसात के ठहरे पानी की मियाद इतनी लंबी कि पेड़ों का उगना, मुश्किल ही नहीं, करीब-करीब नामुमकिन था। कुछ झाऊँ और कीकर जरूर उग आते थे जब-तब। पर जब और तब के बीच का फासला इतना कम होता कि पता न चलता, कब थे कब नहीं। उगते, हरसाते, ललचाते और मुक्ति पा जाते। जब पहले-पहल, पहला झाऊँ उगा तो बड़ी पुख्तगी के साथ इरादा, उम्मीद बना कि बस अब वह

भरे भले नहीं पर जंगली पेड़ वहाँ हरे जरूर होंगे। और उसके एकाध साल बाद, जमीन ममतामयी हुई तो फलदार पेड़ भी उग सकेंगे। झाऊँ के बाद कीकर उगे तो उम्मीद भी उमगती चली गई, अंकुर से पौध बनती। सरदी पड़ने पर कीकर पीले पड़ कर सूख गए; झाऊँ भी गिनती के दस-बीस बचे। तब भी उम्मीद ने दम न तोड़ा। लगा इस बरस पाला ज्यादा पड़ गया, अगली बार सब ठीक हो जाएगा। जब अगले बरस भी सिलसिला वही रहा तो धीरे-धीरे, जंगली पौधों के पेड़ बनने से पहले गलने-सूखने के साथ, उम्मीद क्या, जिद तक दम तोड़ गई।

दूसरी औरत छाजन के बाहर, चहारदीवारी के भीतर बैठी थी, हैंड पंप के पास। फिड्डी, पेबंद लगी कुर्ती और ढीली सलवार पहने थी। अर्सा पहले जब नया जोड़ा बना था तो रंग ठीक क्या रहा होगा, कहा नहीं जा सकता था। और जो हो, सफेद वह कभी नहीं था। मैला कुचैला या बेतरतीब फिंका हुआ अब भी नहीं। दुरुस्त न सही चुस्त जरूर था, देह पर सुशोभित। सीधी तनी थी उसकी मेहनतकश देह, उतनी ही जितनी पहली की दुखी-झुकी-लुकी। जाहिर था वह निम्न से निम्नतर वर्ग की औरत थी। गाँव की वह औरत, जो दूसरों के खेतों पर फी रोज मजदूरी करके एक दिन की रोजी-रोटी का जुगाड़ करती है पर खुदकाश्त जमीन न होने पर भी रहती किसान है। जमीन से जुड़ाव में; अपनी भाव-भंगिमा में। वह इस ऊसर धरती के साथ पली-बढ़ी थी। उसे उपजाऊ से खार होते देखा था। कोई नहर बनाई थी सरकार ने। पर पानी के निकास का सही बंदोबस्त न होने पर खार इधर के खेतों की तरफ दौड़ा था और हरियल धरती को कल्लर बना कर छोड़ा था। आदमकद पेड़ उगाने की न उसने कभी उम्मीद की, न किसी और ने जिद। उसने आस लगाई तो बस कमतर श्रेणी का धान उगाने वाले खेतिहरों की फसल की बुवाई-कटाई की, जो कमोबेश पूरी होती रही, दो-एक सालों के फासले पर। जब सूखा पड़ता और फसल सिरे से गायब हो जाती तो सरकार राहत के लिए जहाँ सड़क-पुल बनाती, वहीं मजूरी करने चली जाती। जिस दिन मजूरी नहीं, उस दिन कमाई नहीं; रोटी नहीं। बिला काम-धाम, आराम से बैठने की उसे आदत न थी। सोने और जागने के बीच सिर्फ काम का फासला जानती थी, इसलिए चंद मिनट बेकार क्या बैठी, आप से आप आँखें मुँद गईं। इतनी गहरी सोई कि ओढ़नी बदन से हट, सिर पर टिकी रह गई। निस्पंद बैठे हुए भी उसकी देह जिंदगी की थिरकन का भास देती रही। साँस का आना-जाना, छाती का उठना-गिरना,मानों उसकी रूहानियत के परचम हों।

कल उसने दूनी मजदूरी करके, घरवाले और बच्चे के लिए कुछ रोटी-प्याज बचा रखा था कि आज काम पर न जा, यहाँ बैठ पाए। ऐसा भाग कम होता था कि एक दिन में दो दिनों के गुजारे लायक अन्न जुट जाए। सबकुछ बरखा भरोसे जो था। सचमुच पिछले दो बरस बड़भागी बीते थे। पिछले बरस भी बरखा इतनी हो गई थी कि धान की फसल ठीक-ठाक हो और उसे कटाई का काम मिलता रहे। और इस बरस... इस बरस तो यूँ टूट कर बरसा था सावन कि बिला खेत-जमीन, हरिया लिया था जिया। तभी न कल दूनी मजदूरी